राजस्थान का लोक साहित्य : एक सांस्कृतिक विश्लेषण

डा. कमला चौधरी
सहायक आचार्य, (हिन्दी)
जयनारायणव्यास विश्वविद्यालय

रंगीले राजस्थान के कई रंग है। कहीं रेगिस्तानी बालू पसरी हुई है तो कहीं अरावली की पर्वत-श्रृंखलाएं अपना सिर ऊँचा करके खड़ी हुई हैं। इस प्रदेश में शौर्य और बलिदान ही नहीं, साहित्य और कला की भी अजस्र धारा बहती है। चित्रकलाओं ने भी मानव की चिंतन शैली को विकसित व प्रभावित किया है। लोक-साहित्य एवं संस्कृति के लिहाज से राजस्थान समृद्ध प्रदेश है। राजस्थान में साहित्य, संस्कृति, कला की त्रिवेणी बहती है, जीवन कठिन होने के कारण इन कलाओं ने मानव को जिंदगी से लड़ने का हौसला दिया है। यहीं पर महाराणा प्रताप हुए, संत कवयित्री मीरा, कलाप्रेमी कंुभा, चतरसिंह जी बावजी, भृतहरि, बिहारी और अन्य सैकड़ों नाम हैं।

भौगोलिक स्थिति का भी संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है। प्राचीन प्रस्तर युग से चलकर सभ्यता-संस्कृति आज के दौर में पहुँची है। यहाँ की आयड नदी की सभ्यता भी बहुत प्राचीन है। गणगौर, तीज, होली, दशहरा, दीवाली, मेले-ठेले, कुश्ती दंगल, शौर्य-पराक्रम सब इसी धरती पर है। यहाँ की रंग-बिरंगी पोशाकें आज भी धूम मचा रही हैं। आभूषण, केश-विन्यास, भोजन, भजन सब अनोखा है। यहाँ साहित्य में संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, बागड़ी, मेवाड़ी, ब्रज, हाड़ौती, ढूढ़ाणी सभी भाषाओं में विपुल साहित्य है।

'लोक' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है- दिखाई पड़ना अथवा गोचर होना, अर्थात् सारा संसार जो इंद्रिय-गोचर है अथवा सामने है, वह सभी लोक है। लोक साहित्य का अपना ही मुहावरा है। वह भद्रलोक के साहित्य की तरह व्याकरण सम्मत नहीं होता है। कहने का आशय यह है कि वह नियमों के दायरे में बंधा नहीं होता। स्वातंत्र्य उसका प्राण है। लोक साहित्य की बात आते ही लोक भाषाओं या देशज बोलियों में विद्यमान साहित्य हमारे समक्ष उठ खड़ा होता है। इस साहित्य की प्रकृति सामुदायिक है। यह होठों पर विराजने वाली सत्ता है और इसलिए इसका बड़ा हिस्सा प्रायः पद्यात्मक है क्योंकि यह श्रुत परम्परा के अनुकूल है। हिन्दी आलोचना के कीर्ति स्तम्भ नामवर सिंह ने इसे जनता के लिए जनता द्वारा ही रचित माना है। यह देशज भाषाओं या आंचलिक बोलियों में रचा-बसा होता है और उन्हीं की तरह अनगढ़ - उन्मुक्त भी, बिल्कुल 'भाखा बहता नीर' की तरह स्वच्छंद।

राजस्थानी साहित्य की सम्पन्नता में लोक साहित्य की भूमिका अविस्मरणीय है। यह यहाँ की भाषा का अपनापन ही है जो इस बोली के रचाव को वैश्विक पहचान दिलाने का सामर्थ्य रखती है। नाथ साहित्य, रासो साहित्य और संत साहित्य में तो हम इस साहित्य की पावनता के दर्शन पाते ही हैं परन्तु साथ ही आधुनिक काल में भी इस साहित्य में ऐसे हस्ताक्षर हैं जिनके रचनाक्रम से यह साहित्य हमारी संस्कृति और परम्परा को सहेजे हुए हैं। लोक साहित्य के अर्थ पर ही अगर हम इस लेख के प्रारम्भ में बात करें तो सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य कोशकार की टिप्पणी याद आती है- ''वास्तव में लोक साहित्य वह मौलिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिम्बित रहता है। इसके कारण जिस किसी भी शब्द में रचना चैतन्य नहीं मिलता, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक लहजा, प्रत्येक लय सहज ही लोक का अपना है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक

है।''[1] राजस्थानी लोक साहित्य भी अन्य लोक साहित्य की तरह ही राजस्थान के सामाजिक-सांस्कृतिक और भौगोलिक साहित्य का मौखिक दस्तावेज है। शायद लोक साहित्य की इसी विशेषता को देखते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस बारे में कहा है कि ''लोक साहित्य की एक विधा लोक गीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं।''[2] इस प्रकार राजस्थान की इस समृद्ध और बोलती साहित्यिक विरासत के प्रमुख रूप से दो पक्ष हैं- प्रथम लोक साहित्य तथा द्वितीय लोक कला।

पूर्व मध्ययुग में अपभ्रंश भाषा के विकास एवं प्रभाव के कारण इसमें भी साहित्य का सृजन हुआ। इसी के साथ डिंगल व पिंगल में भी साहित्य रचना हुई। वीर गाथाकाल की अनेक रचनाओं पर इस भाषा का प्रभाव है। इस काल के विस्तृत साहित्य को देखते हुए ही राजस्थान को भारत वर्ष की वीर भूमि माना जाना है। इसी क्रम में सुप्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टॉड ने लिखा है- ''राजस्थान में एक भी छोटी रिसासत ऐसी नहीं है जिसमें थर्मोपोली जैसी युद्ध भूमि न हो और कदाचित् ही ऐसा कोई नगर है जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा उत्पन्न न किया हो।''[3] यह तो हुई डिंगल में रचित साहित्य की बात परन्तु भाषा वैज्ञानिकों की माने तो राजस्थान की प्रमुख भाषा मरू भाषा है। मरूभाषा को ही मरूवाणी तथा मारवाड़ी कहते हैं।

राजस्थान के लोक साहित्य में भी सुसंस्कृत साहित्य की ही भाँति 'लोक साहित्य' की विभिन्न विधाएं हैं । इससे यहाँ के लोक साहित्य की व्यापकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। डा. कृष्ण देव उपाध्याय ने यह वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है-''1. लोकगीत, 2. लोक कथा, 3. लोककला 4. लोक-नाट्य, 5. प्रकीर्ण साहित्य''[4]

इस वर्गीकरण को देखते हुए राजस्थान का साहित्य लोक गीत, लोक कथाएँ, लोक नाट्य, पहेलियाँ, प्रेम कथाएँ और फड़ों में लिखा हुआ मिलता है। साथ ही लोक कलाओं रम्मत, ख्याल, भवाई, गवरी, गेर आदि लोक नाट्यों में धर्म, नैतिकता, मनोरंजन व व्यावहारिकता को इस प्रकार संजोया जाता है कि लोक जीवन का सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसी तरह लोक नृत्यों में गरबों व घूमर की धूम है। यहाँ के लोक गीत तो संगीत के क्षेत्र में अनमोल हैं ही इनके रचयिता का कहीं पता नहीं है परन्तु ये मौखिक परम्परा और अनुश्रुति पर आधारित हैं। इनमें मानव समाज की विशुद्ध मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ समयोचित प्रसंगों पर हर्ष-विवाद, प्रेम-ईर्ष्या, उल्लास-भक्ति आदि प्रकट होती है।

राजस्थानी लोक गाथाओं को वीर कथात्मक, प्रेम कथात्मक एवं रोमांचकारी लोक गाथाओं की श्रेणी में बाँटा जा सकता है। इनकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डा. रामकुमार वर्मा लिखते हैं- ''लोक गाथाओं में जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाएँ हैं, जो प्रकृति के प्रशान्त वातावरण में निर्झर की भाँति उमड़ पड़ती है। हृदय की ईश्वरीय विभूतियाँ अपने सहज आलोक सौन्दर्य से दिव्य आलोक विकीर्ण करती हुई अभिव्यक्ति में सहायक हुई है। इनमें सहज सहानुभूति है, स्वस्थ संवेदना और प्राकृतिक वातावरण की सहायता से सशक्त वैभव है, इनमें बुद्धि वैभव भले ही न हो, तथापि इनमें भावना की ऐसी विभूति है कि वह जीवन के भीषण वनों को तपोवन में परिणत कर देती है।''[5] वस्तुतः यह बात केवल लोक गाथाओं पर ही नहीं वरन् अन्य लोक विधाओं पर भी सही बैठती है। इस सहजानुभूति ने इस मरू प्रदेश में बातों की फुलवारियाँ खिला दी है। यहाँ ही ढोला मारू रा दूहा लिखा गया है तो यहीं बीसलदेव रासो व परमाल रासो तथा साथ ही बातां री फुलवारी जैसे रोचक साहित्य की रचना भी हुई है। यहाँ धोरों की धरती पर ऐसे-ऐसे साहित्यकार हुए हैं जिन्होंने छोटे से गाँव में बैठकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर के साहित्य का सृजन किया है। लोक साहित्य की अन्य विधाओं की ही भाँति लोक कथा का रूप भी प्रायः मौखिक ही रहा है। डा.वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में - ''मानव के सुख-दुख, प्रीति-श्रृंगार वीरभाव और बैर इन सबने खाद बनकर, लोक कथाओं को पुष्ट किया है। रहन-सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, पूजा-उपासना आदि सबसे कहानी का ठाठ बनता और बिगड़ता रहता है। मन के आयास को हटाने के लिए कहानी मानव समाज का प्राचीन रसायन है।''[6] राजस्थानी लोक साहित्य की मौखिक परम्परा तो है ही कई सुधी लेखकों, साहित्यकारों ने इसके जीवन मूल्यों व दर्शन को सहेजने का स्तुत्य प्रयास भी किया है। इस संदर्भ में अगर पद्य की बात की जाए तो लोक साहित्य को परम्परागत व आधुनिक दो भागों में विभेदीकृत कर सकते हैं। परम्परागत कविता को थाथी के रूप में सहेजने वाले लेखकों में स्वरूपदास (हृदयरंजन वृत्ति बोध, पाखंड, खंडन), रामनाथ कविया (पाबूजी रा सोरठा, करूणा बावनी), रायसिंह सांदू (मोतिया रा सोरठा), राव बख्तावर (केहर प्रकाश, अन्योक्ति प्रकाश) प्रताप कुंवर बाई (रामजस पच्चीसी, पद हरजस), गणेशपुरी (वीर विनोद), मुरारिदान (वंश भास्कर को पूर्ण किया, डिंगल कोश व वंश समुच्चय ग्रंथ), मुरारिदान आशिया, बालाबरबस बारहठ, केसरीसिंह बारहठ, उदयराज उज्ज्वल, नाथूसिंह महियारिया आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त हनुमंत सिंह देवड़ा, शक्तिदान कविया, कन्हैयालाल सेठिया भी लोक सृजन में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं।

इसी क्रम में अगर साहित्यिक कविता की बात की जाए तो वहाँ कृत्रिम रंगों का अंश अधिक होता है इसकी तुलना में लोक कविता अपने उषा काल से ही अपने नैसर्गिक रूप में हमारे बीच उपस्थित है। लोक साहित्य की अनेक रचनाओं के ना तो रचनाकाल का पता है ना ही उसके रचयिता का परन्तु इन सभी रचनाओं में अंचल विशेष की माटी की सौंधी गंध है। अगर आधुनिक राजस्थानी कथा साहित्य में लोक तत्व की बात की जाए तो विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, अर्जुनदेव चारण, सी. पी. देवल और नंद भारद्वाज ने इस रसायन का भलीभाँति प्रयोग किया है। विजयदान देथा तो

भारतीय साहित्य के गौरवशाली रचनाकारों में शुमार हैं। उनकी कहानियों में लोक की गहरी समझ, वैचारिकी और संवेदनात्मक स्पर्श है । राजस्थानी लोक कथाओं की अद्भुत शैली को अपनी कहानियों में उतारने वाले बिज्जी ने कहानियों के लिए अनेक विषय चुने। जानवरों, भूतों, मूर्ख राजाओं, समझदार राजकुमारियों, चपल बालिकाओं, जैसे चरित्रों को लेकर देथा ने 800 से अधिक कथाएँ लिखी। इस प्रकार उन्होंने अपने शब्दों से लोक साहित्य की समृद्ध परम्परा को न केवल पुनर्जीवित किया वरन् अपनी कथा शैली से उसे रोचकता भी प्रदान की। वे लोक कथाओं के कई गुणों को अपने लेखन में हुबहू उतारते हैं।

बिज्जी और चन्द्र के लेखन में अनुभवों का भण्डार है और सीधी, सरल भावनाएँ हैं। लोक साहित्य का सृजन करने वाले इन चितेरों ने दरअसल लोक साहित्य को केवल एक परम्परा और धरोहर तक ही सीमित नहीं रहने दिया वरन् उसे अपने सृजन में उतारा और एक प्रगतिशील ग्रामीण साहित्यकार बनकर उसे साहित्य की प्रगतिशील धारा में लाने का प्रयास किया। इन सभी संदर्भो में बिज्जी अनूठे हैं उनका सृजन विशेष है | उनके साथ ही राजस्थान में अनेक ऐसे लेखक हुए हैं जिन्होंने अपनी जड़ों से न केवल जुड़ाव ही रखा वरन् उसके फलने फूलने और विकास के लिए भी भरसक प्रयास किए। राजस्थान की इस अलबेली लोक संस्कृति की छटा अब राष्ट्रीय व वैश्विक पटल पर भी दिखाई दे रही है। प्रसिद्ध फिल्मकार अमोल पालेकर ने 'पहेली', प्रकाश झा ने 'परिणीता' और मणिकौल ने 'दुविधा' फिल्में बनाई जो सफल और मनोरंजक फिल्मों की अग्रिम पंक्ति में रखी जा सकती है। इसी के साथ बिज्जी का 'चरणदास चोर' नाटक जो हबीब तनवीर ने निर्देशित किया है, भारत के साथ-साथ अनेक देशों में उसका मंचन हो रहा है।

लोक कहावतें लोक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है और इस दृष्टि से भी राजस्थान का लोक साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। मरू लोक ने अपने दैनिक प्रयोगों के आधार पर अनेक कहावतों का सृजन किया।

उदाहरण के तौर पर किसानी कहावत है ''आभा राता मेह माता'' अर्थात् आकाश रक्तवर्णी है और बरखा की संभावना है और ''आभा पीला मेह सीला'' अर्थात् आसमान पीला हो गया है। समझो बरखा गई इस प्रकार अनुभवी आँखें बादलों के रंगों से ही वृष्टि और अनावृष्टि की सम्भावनाएँ पता लगा लेती थी।'' लोक भाषाओं में कृषकों द्वारा कथित ऐसी अनेक कहावतें और उक्तियाँ उपलब्ध हैं, जो आज वैज्ञानिक विश्लेषण की कसौटी पर जाकर परखी जानी चाहिए।''[7] बारहवीं शताब्दी के ढोला मारू रा दूहा काव्य में भी प्रकृति के सूचक तत्वों को अभिव्यक्त करते हुए अनेक उल्लेख मिलते है:-

अनमियउ उत्तर दिसाइँ काली कंठलि मोह
हूँ भीजूँ घर आंगणियइ पिउ भींजई परदेह
काली कंठलि बादलि, बरसिज मेल्हइ बाउ[8]

राजस्थान रा दूहा, ढोला मारू रा दूहा, राजस्थान हिन्दी कहावत कोश आदि कृतियों में ऐसे ना जाने कितने उदाहरण बिखरे पड़े हैं जहाँ प्रकृति की नियमावली है, सामाजिक मर्यादाओं के वृत्त हैं, टीसती हुई सच्चाइयाँ हैं और अतीत का समूचा परिवेश है जो आज भी स्पंदित होता हुआ दीख पड़ता है। लोक साहित्य की परम्परा का अनुशीलन करता हुआ जो साहित्य अब रचा जा रहा है वह अनेक मोर्चा पर एक साथ लड़ता हुआ नजर आता है। अगर इस साहित्य की सौंधी महक को घर-घर में पहुँचाना है तो इसके लिए अनेक प्रयास करने होंगे। इन्हें साहित्यिक अध्ययन का विषय बनाना होगा और इनका मूल्यांकन आधुनिक साहित्य के तय मापदंडों से करने से बचना होगा। वस्तुतः परिष्कृत साहित्य को जिन सिद्धान्तों से मूल्यांकित किया जाता है उन्हीं सिद्धान्तों को लोक साहित्य के अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जो मंजे हुए और साधारणीकृत आधार हमारे पास हैं वे हमारी औपचारिक भाषा और अनुशासित साहित्य के निकष हैं इसके विपरीत लोक साहित्य का अपना निजी अनुशासन है। साथ ही लोक नाट्य जो लोक साहित्य व संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं उनके क्षेत्रीय महत्त्व को जानना होगा और उन्हें संरक्षण प्रदान करना होगा। उन्हें मंचन के अधिकाधिक अवसर प्रदान करने होंगे।

निष्कर्ष:-

राजस्थानी लोक साहित्य एवं संस्कृति का यहाँ विहंगावलोकन प्रस्तुत किया है। लोक-संस्कृति के तत्वों की विविधता और गहनता इतनी अधिक है कि एक स्थल पर संक्षेप में उन्हें समेट पाना संभव नहीं। लोक-संस्कृति को बाजार एवं भूमण्डलीकरण ने दबोच लिया है, उसे आवृत्त करने की चेष्टाएँ जारी हैं। संस्कृति मानव-मात्र की पहचान होती है, जिनकी निर्मिती सदियों में होती है। सुविचारित, सुदीर्घ परम्परा को वैश्वीकरण के मोह में त्याग देना बुद्धिमत्ता नहीं है। साथ ही समय का यह विचित्र सत्य है कि 'लोक', वस्त्रों, आभूषणों, ड्राइंग-रूमों में 'प्रदर्शन प्रियता' के साथ पैठ बना चुका है। यह आधुनिकता की नई परिभाषा है, जिससे लोक आख्याता विद्यानिवास मिश्र को भी घोर आपत्ति थी। फैशन के तौर पर मात्र दिखावे के लिए 'लोक' को अपनाना व्यर्थ है, ठीक आत्मा-रहित देह की भाँति। वर्तमान युग में मानवीय व्यवहार आत्मकेन्द्रित व व्यावसायिक हुआ है। सामाजिक रिश्तों में सामूहिकता का क्षरण हुआ है, जिसने कहीं न कहीं हमारे सांस्कृतिक परिवेश को गहरे तक झिंझोड़ा है।

इसके बावजूद कुछ लोग, सांस्कृतिक समूह, संगठन और मशाल लेकर चलने वाले लोग एक टिमटिमाते दीये की भाँति संस्कृति की राह को उजाला बनाए हुए है। उनमें अपनी जड़ों से जुड़े रहने का जुनून है। सांस्कृतिक विरासत को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का संकल्प है जिनके बूते संस्कृति

की अविरल धारा मंथर गति से ही सही, आगे बढ़ रही है, जो एक नई उम्मीद जगाती है। आने वाले समय में आज के कालखंड की भी ऐसे ही ऐतिहासिक कालों में गणना होगी और आने वाली सदियों में भी हम कवि इकबाल के भाव को जीते रहेंगे।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौर-ए-जमाँ हमारा।
बस, लोक-जीवन को बचाए रखना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. हिन्दी साहित्य कोश.(2020)भाग-1(सं.). वाराणसी:ज्ञान मंडल प्रकाशन.पृ. 753
2. डा. मधुलता, श्रीवास्तव.(नवम्बर.1951). आजकल. लेख-अवध के लोकगीत उनका शिल्प सौन्दर्य.पृ. 17
3. क्रुक, विलियम. एनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान. (1920).(सं) भाग-2, हिन्दी संस्करण. जयपुर : मंगल प्रकाशन.
4. गिलडा, डा. वेद प्रकाश. कबीर पंथ पर पंथेवर प्रभाव. मेरठ : 'शैवाल' प्रकाशक अनु. बुक्स.पृ. 165
5. वर्मा, डा. रामकुमार. साहित्य शास्त्र.पृ. 102
6. अग्रवाल, डा. वासुदेव. (1954). लोक कथाएँ और उनका संग्रह लेखक. पृ. 9
7. परमार, श्याम. लोक साहित्य विमर्श. अजमेर : कृष्णा ब्रदर्स. पृ. 28
8. ढोला मारू रा दूहा. नागरी प्रचारिणी सभा. दोहा क्रम, 43.पृ. 267

पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी

पूर्वोत्तर एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र है। यहाँ हजारों वर्षों से असमीया भाषा संपर्क भाषा रही है। यहाँ असमीया के साथ ही बंगला, नेपाली, मणिपुरी, अंग्रेजी, खासी, गारो, निशी, आदि, मोनपा, वांग्चु, नागामीज, मिजो, काॅकबराक, लेप्चा, भुटिया और गिनते-गिनते इन आठ राज्यों में प्रायः 200 विभिन्न भाषायें एवं बोलियां प्रचलित हैं। अधिकांश भाषा एवं बोलियां तिब्बत-बर्मी परिवार की होने के कारण अलग से पहचानी जाती हैं। विविधताओं के कारण इस अंचल को 'भाषाओं की प्रयोगशाला' कहा जाता है।

पूर्वोत्तर भारत में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। जिनकी अपनी-अपनी भाषाएँ तथा बोलियां हैं। इनमें बोड़ो, कछारी, जयंतिया, कोच, त्रिपुरी, गारो, राभा, देउरी, दिमासा, रियांग, लालुंग, नागा, मिजो, त्रिपुरी, जामातिया, खासी, कार्बी, मिसिंग, निशी, आदी, आपातानी, इत्यादि प्रमुख हैं। पूर्वोत्तर की भाषाओं में से केवल असमिया, बोड़ो और मणिपुरी को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान मिला है। सभी राज्यों में हिन्दी भाषा का प्रयोग अधिकांश प्रवासी हिन्दी भाषियों द्वारा आपस में किया जाता है।

पूर्वोत्तर में हिन्दी का औपचारिक रूप से प्रवेश वर्ष 1934 में हुआ, जब महात्मा गांधी 'अखिल भारतीय हरिजन सभा' की स्थापना हेतु असम आये। उस समय गड़मूड़ (माजुली) के सत्राधिकार (वैष्णव धर्मगुरू) एवं स्वतंत्रता सेनानी श्री श्री पीताम्बर देव गोस्वामी के आग्रह पर गांधी जी संतुष्ट होकर 'बाबा राघव दास जी' को हिन्दी प्रचारक के रूप में असम भेजा। वर्ष 1938 में 'असम हिन्दी प्रचार समिति' की स्थापना गुवाहाटी में हुई। यह समिति आगे चलकर 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' बनी। आम लोगों में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रचार-प्रसार करने हेतु- प्रबोध, विशारद, प्रवीण, आदि परीक्षाओं का आयोजन इस समिति के द्वारा होता आ रहा है। पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी की स्थिति दिनों-दिन सबल होती जा रही है और यह सही दिशा में आगे बढ़ रहा है। हिन्दी का प्रचार-प्रसार तथा उसकी लोकप्रियता एवं व्यावहारिकता टी.वी. (धारावाहिक, विज्ञापन), सिनेमा, आकाशवाणी, पत्रकारिता, विद्यालय, महाविद्यालय तथा उच्च शिक्षा में हिन्दी भाषा के प्रयोग द्वारा बढ़ रही है।